

## अध्याय पन्द्रह

# पुरुषोत्तम योग

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।  
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; ऊर्ध्व-मूलम्—ऊपर की ओर जड़ें; अधः—नीचे की ओर; शाखम्—शाखाएँ; अश्वत्थम्—अश्वत्थ वृक्ष को; प्राहुः—कहा गया है; अव्ययम्—शाश्वत; छन्दांसि—वैदिक स्तोत्र; यस्य—जिसके; पर्णानि—पत्ते; यः—जो कोई; तम्—उसको; वेद—जानता है; सः—वह; वेद-वित्—वेदों का ज्ञाता।

भगवान् ने कहा—कहा जाता है कि एक शाश्वत अश्वत्थ वृक्ष है, जिसकी जड़ें तो ऊपर की ओर हैं और शाखाएँ नीचे की ओर तथा पत्तियाँ वैदिक स्तोत्र हैं। जो इस वृक्ष को जानता है, वह वेदों का ज्ञाता है।

तात्पर्य

भक्तियोग की महत्ता की विवेचना के बाद यह पूछा जा सकता है, “वेदों का क्या प्रयोजन है?” इस अध्याय में बताया गया है कि वैदिक अध्ययन का प्रयोजन कृष्ण को समझना है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित है, जो भक्ति में रत है, वह वेदों को पहले से जानता है।

इस भौतिक जगत् के बन्धन की तुलना अश्वत्थ के वृक्ष से की गई है। जो व्यक्ति सकाम कर्मों में लगा है, उसके लिए इस वृक्ष का कोई अन्त

नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी में और दूसरी से तीसरी में घूमता रहता है। इस जगत् रूपी वृक्ष का कोई अन्त नहीं है और जो इस वृक्ष में आसक्त है, उसकी मुक्ति की कोई सम्भावना नहीं है। वैदिक स्तोत्र, जो आत्मोन्नति के लिए हैं, वे ही इस वृक्ष के पत्ते हैं। इस वृक्ष की जड़ें ऊपर की ओर बढ़ती हैं, क्योंकि वे इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से प्रारम्भ होती हैं, जहाँ पर ब्रह्मा स्थित हैं। यदि कोई इस मोह रूपी अविनाशी वृक्ष को समझ लेता है, तो वह इससे बाहर निकल सकता है।

बाहर निकलने की इस विधि को जानना आवश्यक है। पिछले अध्यायों में बताया जा चुका है कि भवबन्धन से निकलने की कई विधियाँ हैं। हम तेरहवें अध्याय तक यह देख चुके हैं कि भगवद्भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट विधि है। भक्ति का मूल सिद्धान्त है—भौतिक कार्यों से विरक्ति तथा भगवान् की दिव्य सेवा में अनुरक्ति। इस अध्याय के प्रारम्भ में संसार से आसक्ति तोड़ने की विधि का वर्णन हुआ है। इस संसार की जड़ें ऊपर को बढ़ती हैं। इसका अर्थ है कि ब्रह्माण्ड के सर्वोच्चलोक से पूर्ण भौतिक पदार्थ से यह प्रक्रिया शुरू होती है। वहीं से सारे ब्रह्माण्ड का विस्तार होता है, जिसमें अनेक लोक उसकी शाखाओं के रूप में होते हैं। इसके फल जीवों के कर्मों के फल के, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के, द्योतक हैं।

यद्यपि इस संसार में ऐसे वृक्ष का, जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर हों तथा जड़ें ऊपर की ओर हों, कोई अनुभव नहीं है, किन्तु बात कुछ ऐसी ही है। ऐसा वृक्ष जलाशय के निकट पाया जा सकता है। हम देख सकते हैं—जलाशय के तट पर उगे वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है, तो उसकी जड़ें ऊपर तथा शाखाएँ नीचे की ओर दिखती हैं। दूसरे शब्दों में, यह जगत् रूपी वृक्ष आध्यात्मिक जगत् रूपी वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब मात्र है। इस आध्यात्मिक जगत् का प्रतिबिम्ब हमारी इच्छाओं में स्थित है, जिस प्रकार वृक्ष का प्रतिबिम्ब जल में रहता है। इच्छा ही इस प्रतिबिम्बित भौतिक प्रकाश में वस्तुओं के स्थित होने का कारण है। जो व्यक्ति इस भौतिक जगत् से बाहर निकलना चाहता है, उसे वैश्लेषिक अध्ययन के

माध्यम से इस वृक्ष को भलीभाँति जान लेना चाहिए। फिर वह इस वृक्ष से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है।

यह वृक्ष वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब होने के कारण वास्तविक प्रतिरूप है। आध्यात्मिक जगत् में सब कुछ है। ब्रह्म को निर्विशेषवादी इस भौतिक वृक्ष का मूल मानते हैं और सांख्य दर्शन के अनुसार इसी मूल से पहले प्रकृति, पुरुष और तब तीन गुण निकलते हैं और फिर पाँच स्थूल तत्त्व (पंच महाभूत), फिर दस इन्द्रियाँ (दशेन्द्रिय), मन आदि। इस प्रकार वे सारे संसार को चौबीस तत्त्वों में विभाजित करते हैं। यदि ब्रह्म समस्त अभिव्यक्तियों का केन्द्र है, तो एक प्रकार से यह भौतिक जगत् १८० अंश (गोलाद्ध) में है और दूसरे १८० अंश (गोलाद्ध) में आध्यात्मिक जगत् है। चूँकि यह भौतिक जगत् उल्टा प्रतिबिम्ब है, अतः आध्यात्मिक जगत् में भी इसी प्रकार की विविधता होनी चाहिये। प्रकृति परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति है और पुरुष साक्षात् परमेश्वर है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हो चुकी है। चूँकि यह अभिव्यक्ति भौतिक है, अतः क्षणिक है। प्रतिबिम्ब भी क्षणिक होता है, क्योंकि कभी वह दिखता है और कभी नहीं दिखता। परन्तु वह स्रोत जहाँ से यह प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बित होता है, शाश्वत है। वास्तविक वृक्ष के भौतिक प्रतिबिम्ब का विच्छेदन करना होता है। जब कोई कहता है कि अमुक व्यक्ति वेद जानता है, तो इससे समझा जाता है कि वह इस जगत् की आसक्ति से विच्छेद करना जानता है। यदि वह इस विधि को जानता है, तो समझिये कि वह वास्तव में वेदों को जानता है। जो व्यक्ति वेदों के कर्मकाण्ड द्वारा आकृष्ट होता है, वह इस वृक्ष की सुन्दर हरी पत्तियों से आकृष्ट होता है। वह वेदों के वास्तविक उद्देश्य को नहीं जानता। वेदों का उद्देश्य, भगवान् ने स्वयं प्रकट किया है और वह है इस प्रतिबिम्बित वृक्ष को काट कर आध्यात्मिक जगत् के वास्तविक वृक्ष को प्राप्त करना।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा  
 गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।  
 अधश्च मूलान्यनुसन्तानि  
 कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

### शब्दार्थ

अधः—नीचे; च—तथा; ऊर्ध्वम्—ऊपर की ओर; प्रसृताः—फैली हुई; तस्य—  
 उसकी; शाखाः—शाखाएँ; गुण—प्रकृति के गुणों द्वारा; प्रवृद्धाः—विकसित;  
 विषय—इन्द्रियविषय; प्रवालाः—टहनियाँ; अधः—नीचे की ओर; च—तथा;  
 मूलानि—जड़ों को; अनुसन्तानि—विस्तृत; कर्म—कर्म करने के लिए;  
 अनुबन्धीनि—बँधा; मनुष्य-लोके—मानव समाज के जगत् में।

इस वृक्ष की शाखाएँ ऊपर तथा नीचे फैली हुई हैं और प्रकृति के तीन गुणों द्वारा पोषित हैं। इसकी टहनियाँ इन्द्रियविषय हैं। इस वृक्ष की जड़ें नीचे की ओर भी जाती हैं, जो मानवसमाज के सकाम कर्मों से बँधी हुई हैं।

### तात्पर्य

अश्वत्थ वृक्ष की यहाँ और भी व्याख्या की गई है। इसकी शाखाएँ चतुर्दिक् फैली हुई हैं। निचले भाग में जीवों की विभिन्न योनियाँ हैं, यथा मनुष्य, पशु, घोड़े, गाय, कुत्ते, बिल्लियाँ आदि। ये सभी वृक्ष की शाखाओं के निचले भाग में स्थित हैं। लेकिन ऊपरी भाग में जीवों की उच्चयोनियाँ हैं—यथा देव, गन्धर्व तथा अन्य बहुत सी उच्चतर योनियाँ। जिस प्रकार सामान्य वृक्ष का पोषण जल से होता है, उसी प्रकार यह वृक्ष प्रकृति के तीन गुणों द्वारा पोषित है। कभी-कभी हम देखते हैं कि जलाभाव से कोई-कोई भूखण्ड वीरान हो जाता है, तो कोई खण्ड लहलहाता है, इसी प्रकार जहाँ प्रकृति के किन्हीं विशेष गुणों का आनुपातिक आधिक्य होता है, वहाँ उसी के अनुरूप जीवों की योनियाँ प्रकट होती हैं।

वृक्ष की टहनियाँ इन्द्रियविषय हैं। विभिन्न गुणों के विकास से हम विभिन्न प्रकार की इन्द्रियों का विकास करते हैं और इन इन्द्रियों के द्वारा हम विभिन्न इन्द्रियविषयों का भोग करते हैं। शाखाओं के सिरे इन्द्रियाँ हैं—यथा कान, नाक, आँख आदि, जो विभिन्न इन्द्रियविषयों के भोग में आसक्त हैं। टहनियाँ शब्द, रूप, स्पर्श आदि इन्द्रिय विषय हैं। सहायक जड़ें राग

तथा द्वेष हैं, जो विभिन्न प्रकार के कष्ट तथा इन्द्रियभोग के विभिन्न रूप हैं। धर्म-अधर्म की प्रवृत्तियाँ इन्हीं गौण जड़ों से उत्पन्न हुई मानी जाती हैं, जो चारों दिशाओं में फैली हैं। वास्तविक जड़ तो ब्रह्मलोक में है, किन्तु अन्य जड़ें मर्त्यलोक में हैं। जब मनुष्य उच्चलोकों में पुण्यकर्मों का फल भोग चुकता है, तो वह इस धरा पर उतरता है और उन्नति के लिए सकाम कर्मों का नवीनीकरण करता है। यह मनुष्यलोक कर्मक्षेत्र माना जाता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-

मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं

यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये

यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; रूपम्—रूप; अस्य—इस वृक्ष का; इह—इस संसार में; तथा—भी;  
उपलभ्यते—अनुभव किया जा सकता है; न—कभी नहीं; अन्तः—अन्त; न—कभी  
नहीं; च—भी; आदिः—प्रारम्भ; न—कभी नहीं; च—भी; सम्प्रतिष्ठा—नींव;  
अश्वत्थम्—अश्वत्थ वृक्ष को; एनम्—इस; सु-विरूढ—अत्यन्त दृढ़ता से; मूलम्—  
जड़वाला; असङ्ग-शस्त्रेण—विरक्ति के हथियार से; दृढेन—दृढ़; छित्त्वा—काट कर;  
ततः—तत्पश्चात्; पदम्—स्थिति को; तत्—उस; परिमार्गितव्यम्—खोजना चाहिए;  
यस्मिन्—जहाँ; गताः—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तन्ति—वापस आते हैं; भूयः—  
पुनः; तम्—उसको; एव—ही; च—भी; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—भगवान् की;  
प्रपद्ये—शरण में जाता हूँ; यतः—जिससे; प्रवृत्तिः—प्रारम्भ; प्रसृता—विस्तीर्ण;  
पुराणि—अत्यन्त पुरानी।

इस वृक्ष के वास्तविक स्वरूप का अनुभव इस जगत् में नहीं किया जा सकता। कोई भी नहीं समझ सकता कि इसका आदि कहाँ है, अन्त कहाँ है या इसका आधार कहाँ है? लेकिन मनुष्य को चाहिए कि इस दृढ़ मूल वाले वृक्ष को

विरक्ति के शस्त्र से काट गिराए। तत्पश्चात् उसे ऐसे स्थान की खोज करनी चाहिए जहाँ जाकर लौटना न पड़े और जहाँ उस भगवान् की शरण ग्रहण कर ली जाये, जिससे अनादि काल से प्रत्येक वस्तु का सूत्रपात तथा विस्तार होता आया है।

#### तात्पर्य

अब यह स्पष्ट कह दिया गया है कि इस अश्वत्थ वृक्ष के वास्तविक स्वरूप को इस भौतिक जगत् में नहीं समझा जा सकता। चूँकि इसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं, अतः वास्तविक वृक्ष का विस्तार विरुद्ध दिशा में होता है। जब वृक्ष के भौतिक विस्तार में कोई फँस जाता है, तो उसे न तो यह पता चल पाता है कि यह कितनी दूरी तक फैला है और न वह इस वृक्ष के शुभारम्भ को ही देख पाता है। फिर भी मनुष्य को कारण की खोज करनी ही होती है। “मैं अमुक पिता का पुत्र हूँ, जो अमुक का पुत्र है, आदि”— इस प्रकार अनुसन्धान करने से मनुष्य को ब्रह्मा प्राप्त होते हैं, जिन्हें गर्भोदकशायी विष्णु ने उत्पन्न किया। इस प्रकार अन्ततः भगवान् तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ सारी गवेषणा का अन्त हो जाता है। मनुष्य को इस वृक्ष के उद्गम, परमेश्वर, की खोज ऐसे व्यक्तियों की संगति द्वारा करनी होती है, जिन्हें उस परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त है। इस प्रकार ज्ञान से मनुष्य धीरे-धीरे वास्तविकता के इस छद्म प्रतिबिम्ब से विलग हो जाता है और सम्बन्ध-विच्छेद होने पर वह वास्तव में मूलवृक्ष में स्थित हो जाता है।

इस प्रसंग में *असङ्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि विषयभोग की आसक्ति तथा भौतिक प्रकृति पर प्रभुता अत्यन्त प्रबल होती है। अतएव प्रामाणिक शास्त्रों पर आधारित आत्म-ज्ञान की विवेचना द्वारा विरक्ति सीखनी चाहिए और ज्ञानी पुरुषों से श्रवण करना चाहिए। भक्तों की संगति में रहकर ऐसी विवेचना से भगवान् की प्राप्ति होती है। तब सर्वप्रथम जो करणीय है, वह है भगवान् की शरण ग्रहण करना। यहाँ पर उस स्थान (पद) का वर्णन किया गया है, जहाँ जाकर मनुष्य इस छद्म प्रतिबिम्बित वृक्ष में कभी वापस नहीं लौटता। भगवान् कृष्ण वह आदि मूल हैं, जहाँ से प्रत्येक वस्तु निकली है। उस भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए

केवल उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए, जो श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा भक्ति करने के फलस्वरूप प्राप्त होती है। वे ही भौतिक जगत् के विस्तार के कारण हैं। इसकी व्याख्या पहले ही स्वयं भगवान् ने की है। अहं सर्वस्य प्रभवः—मैं प्रत्येक वस्तु का उद्गम हूँ। अतएव इस भौतिक जीवन रूपी प्रबल अश्वत्थ के वृक्ष के बन्धन से छूटने के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण की जानी चाहिए। कृष्ण की शरण ग्रहण करते ही मनुष्य स्वतः इस भौतिक विस्तार से विलग हो जाता है।

### निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा

अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-

गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

#### शब्दार्थ

निः—रहित; मान—झूठी प्रतिष्ठा; मोहाः—तथा मोह; जित—जीता गया; सङ्ग—संगति की; दोषाः—त्रुटियाँ; अध्यात्म—आध्यात्मिक ज्ञान में; नित्याः—शाश्वतता में; विनिवृत्त—विलग; कामाः—काम से; द्वन्द्वैः—द्वैत से; विमुक्ताः—मुक्त; सुख-दुःख—सुख तथा दुःख; संज्ञैः—नामक; गच्छन्ति—प्राप्त करते हैं; अमूढाः—मोहरहित; पदम्—पद, स्थान को; अव्ययम्—शाश्वत; तत्—उस।

जो झूठी प्रतिष्ठा, मोह तथा कुसंगति से मुक्त हैं, जो शाश्वत तत्त्व को समझते हैं, जिन्होंने भौतिक काम को नष्ट कर दिया है, जो सुख तथा दुःख के द्वन्द्व से मुक्त हैं और जो मोहरहित होकर परम पुरुष के शरणागत होना जानते हैं, वे उस शाश्वत राज्य को प्राप्त होते हैं।

#### तात्पर्य

यहाँ पर शरणागति का अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। इसके लिए जिस प्रथम योग्यता की आवश्यकता है, वह है मिथ्या अहंकार से मोहित न होना। चूँकि बद्धजीव अपने को प्रकृति का स्वामी मानकर गर्वित रहता है, अतएव उसके लिए भगवान् की शरण में जाना कठिन होता है। उसे वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यह जानना चाहिए कि वह प्रकृति का

स्वामी नहीं है, उसका स्वामी तो परमेश्वर है। जब मनुष्य अहंकार से उत्पन्न मोह से मुक्त हो जाता है, तभी शरणागति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सकती है। जो व्यक्ति इस संसार में सदैव सम्मान की आशा रखता है, उसके लिए भगवान् के शरणागत होना कठिन है। अहंकार तो मोह के कारण होता है, क्योंकि यद्यपि मनुष्य यहाँ आता है, कुछ काल तक रहता है और फिर चला जाता है, तो भी मूर्खतावश यह समझ बैठता है कि वही इस संसार का स्वामी है। इस तरह वह सारी परिस्थिति को जटिल बना देता है और सदैव कष्ट उठाता रहता है। सारा संसार इसी भ्रान्तधारणा के अन्तर्गत आगे बढ़ता है। लोग सोचते हैं कि यह भूमि या पृथ्वी मानव समाज की है और उन्होंने भूमि का विभाजन इस मिथ्या धारणा से कर रखा है कि वे इसके स्वामी हैं। मनुष्य को इस भ्रम से मुक्त होना चाहिए कि मानव समाज ही इस जगत् का स्वामी है। जब मनुष्य इस प्रकार की भ्रान्तधारणा से मुक्त हो जाता है, तो वह पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय स्नेह से उत्पन्न कुसंगतियों से मुक्त हो जाता है। ये त्रुटि-पूर्ण संगतियाँ ही उसे इस संसार से बाँधने वाली हैं। इस अवस्था के बाद उसे आध्यात्मिक ज्ञान विकसित करना होता है। उसे ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करना होता है कि वास्तव में उसका क्या है और क्या नहीं है। और जब उसे वस्तुओं का सही-सही ज्ञान हो जाता है तो वह सुख-दुःख, हर्ष-विषाद जैसे द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है। वह ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है और तब भगवान् का शरणागत बनना सम्भव हो पाता है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तत्—वह; भासयते—प्रकाशित करता है; सूर्यः—सूर्य; न—न तो;  
 शशाङ्कः—चन्द्रमा; न—न तो; पावकः—अग्नि, बिजली; यत्—जहाँ; गत्वा—जाकर;  
 न—कभी नहीं; निवर्तन्ते—वापस आते हैं; तत् धाम—वह धाम; परमम्—परम;  
 मम—मेरा।



वह मेरा परम धाम न तो सूर्य या चन्द्र के द्वारा प्रकाशित होता है और न अग्नि या बिजली से। जो लोग वहाँ पहुँच जाते हैं, वे इस भौतिक जगत् में फिर से लौट कर नहीं आते।

तात्पर्य

यहाँ पर आध्यात्मिक जगत् अर्थात् भगवान् कृष्ण के धाम का वर्णन हुआ है, जिसे कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन कहा जाता है। चिन्मय आकाश में न तो सूर्यप्रकाश की आवश्यकता है, न चन्द्रप्रकाश अथवा अग्नि या बिजली की, क्योंकि सारे लोक स्वयं प्रकाशित हैं। इस ब्रह्माण्ड में केवल एक लोक, सूर्य, ऐसा है जो स्वयं प्रकाशित है। लेकिन आध्यात्मिक आकाश में सभी लोक स्वयं प्रकाशित हैं। उन समस्त लोकों के (जिन्हें वैकुण्ठ कहा जाता है) चमचमाते तेज से चमकीला आकाश बनता है, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं। वस्तुतः यह तेज कृष्णलोक, गोलोक वृन्दावन से निकलता है। इस तेज का एक अंश महत्-तत्त्व अर्थात् भौतिक जगत् से आच्छादित रहता है। इसके अतिरिक्त ज्योतिर्मय आकाश का अधिकांश भाग तो आध्यात्मिक लोकों से पूर्ण है, जिन्हें वैकुण्ठ कहा जाता है और जिनमें से गोलोक वृन्दावन प्रमुख है।

जब तक जीव इस अंधकारमय जगत् में रहता है, तब तक वह बद्ध अवस्था में होता है। लेकिन ज्योंही वह इस भौतिक जगत् रूपी मिथ्या, विकृत वृक्ष को काट कर आध्यात्मिक आकाश में पहुँचता है, त्योंही वह मुक्त हो जाता है। तब वह यहाँ वापस नहीं आता। इस बद्ध जीवन में जीव अपने को भौतिक जगत् का स्वामी मानता है, लेकिन अपनी मुक्त अवस्था में वह आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करता है और परमेश्वर का पार्षद बन जाता है। वहाँ पर वह सच्चिदानन्दमय जीवन बिताता है।

इस सूचना से मनुष्य को मुग्ध हो जाना चाहिए। उसे उस शाश्वत जगत् में ले जाये जाने की इच्छा करनी चाहिए और सच्चाई के इस मिथ्या प्रतिबिम्ब से अपने आपको विलग कर लेना चाहिए। जो इस संसार से अत्यधिक आसक्त है, उसके लिए इस आसक्ति का छेदन करना दुष्कर होता है। लेकिन यदि वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर ले, तो उसके क्रमशः छूट जाने की सम्भावना है। उसे ऐसे भक्तों की संगति करनी

चाहिए जो कृष्णभावनाभावित होते हैं। उसे ऐसा समाज खोजना चाहिए, जो कृष्णभावनामृत के प्रति समर्पित हो और उसे भक्ति करनी सीखनी चाहिए। इस प्रकार वह संसार के प्रति अपनी आसक्ति विच्छेद कर सकता है। यदि कोई चाहे कि केसरिया वस्त्र पहनने से भौतिक जगत् के आकर्षण से विच्छेद हो जाएगा, तो ऐसा सम्भव नहीं है। उसे भगवद्भक्ति के प्रति आसक्त होना पड़ेगा। अतएव मनुष्य को चाहिए कि गम्भीरतापूर्वक समझे कि बारहवें अध्याय में भक्ति का जैसा वर्णन है वही वास्तविक वृक्ष की इस मिथ्या अभिव्यक्ति से बाहर निकलने का एकमात्र साधन है। चौदहवें अध्याय में बताया गया है कि भौतिक प्रकृति द्वारा सारी विधियाँ दूषित हो जाती हैं, केवल भक्ति ही शुद्ध रूप से दिव्य है।

यहाँ परमं मम शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में जगत का कोना-कोना भगवान् की सम्पत्ति है, परन्तु दिव्य जगत परम है और छह ऐश्वर्यों से पूर्ण है। कठोपनिषद् (२.२.१५) में भी इसकी पुष्टि की गई है कि दिव्य जगत में सूर्य प्रकाश, चन्द्र प्रकाश या तारागण की कोई आवश्यकता नहीं है, (न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम्) क्योंकि समस्त आध्यात्मिक आकाश भगवान् की आन्तरिक शक्ति से प्रकाशमान है। उस परम धाम तक केवल शरणागति से ही पहुँचा जा सकता है, अन्य किसी साधन से नहीं।

**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।**

**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥**

**शब्दार्थ**

मम—मेरा; एव—निश्चय ही; अंशः—सूक्ष्म कण; जीव-लोके—बद्ध जीवन के संसार में; जीव-भूतः—बद्धजीव; सनातनः—शाश्वत; मनः—मन; षष्ठानि—छह; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों समेत; प्रकृति—भौतिक प्रकृति में; स्थानि—स्थित; कर्षति—संघर्ष करता है।

इस बद्ध जगत् में सारे जीव मेरे शाश्वत अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण वे छहों इन्द्रियों से घोर संघर्ष कर रहे हैं, जिनमें मन भी सम्मिलित है।

तात्पर्य

इस श्लोक में जीव का स्वरूप स्पष्ट है। जीव परमेश्वर का सनातन रूप से सूक्ष्म अंश है। ऐसा नहीं है कि बद्ध जीवन में वह एक व्यष्टित्व धारण करता है और मुक्त अवस्था में वह परमेश्वर से एकाकार हो जाता है। वह सनातन का अंश रूप है। यहाँ पर स्पष्टतः *सनातन* कहा गया है। वेदवचन के अनुसार परमेश्वर अपने आप को असंख्य रूपों में प्रकट करके विस्तार करते हैं, जिनमें से व्यक्तिगत विस्तार *विष्णुतत्त्व* कहलाते हैं और गौण विस्तार जीव कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, विष्णु तत्त्व निजी विस्तार (स्वांश) हैं और जीव विभिन्नांश (पृथकीकृत अंश) हैं। अपने स्वांश द्वारा वे भगवान् राम, नृसिंह देव, विष्णुमूर्ति तथा वैकुण्ठलोक के प्रधान देवों के रूप में प्रकट होते हैं। विभिन्नांश अर्थात् जीव, सनातन सेवक होते हैं। भगवान् के स्वांश सदैव विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार जीवों के विभिन्नांशों के अपने स्वरूप होते हैं। परमेश्वर के विभिन्नांश होने के कारण जीवों में भी उनके आंशिक गुण पाये जाते हैं, जिनमें से स्वतन्त्रता एक है। प्रत्येक जीव का आत्मा रूप में, अपना व्यष्टित्व और सूक्ष्म स्वातंत्र्य होता है। इसी स्वातंत्र्य के दुरुपयोग से जीव बद्ध बनता है और उसके सही उपयोग से वह मुक्त बनता है। दोनों ही अवस्थाओं में वह भगवान् के समान ही सनातन होता है। मुक्त अवस्था में वह इस भौतिक अवस्था से मुक्त रहता है और भगवान् की दिव्य सेवा में निरत रहता है। बद्ध जीवन में प्रकृति के गुणों द्वारा अभिभूत होकर वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को भूल जाता है। फलस्वरूप उसे अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए इस संसार में अत्यधिक संघर्ष करना पड़ता है।

न केवल मनुष्य तथा कुत्ते-बिल्ली जैसे जीव, अपितु इस भौतिक जगत् के बड़े-बड़े नियन्ता—यथा ब्रह्मा-शिव तथा विष्णु तक, परमेश्वर के अंश हैं। ये सभी सनातन अभिव्यक्तियाँ हैं, क्षणिक नहीं। *कर्षति* (संघर्ष करना) शब्द अत्यन्त सार्थक है। बद्धजीव मानो लौह शृंखलाओं से बँधा हो। वह मिथ्या अहंकार से बँधा रहता है और मन मुख्य कारण है जो उसे इस भवसागर की ओर धकेलता है। जब मन सतोगुण में रहता है, तो उसके कार्यकलाप अच्छे होते हैं। जब रजोगुण में रहता है, तो उसके कार्यकलाप कष्टकारक होते हैं और जब वह तमोगुण में होता है, तो वह

जीवन की निम्नयोनियों में चला जाता है। लेकिन इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि बद्धजीव मन तथा इन्द्रियों समेत भौतिक शरीर से आवरित है और जब वह मुक्त हो जाता है तो यह भौतिक आवरण नष्ट हो जाता है। लेकिन उसका आध्यात्मिक शरीर अपने व्यष्टि रूप में प्रकट होता है। *माध्यान्दिनायन श्रुति* में यह सूचना प्राप्त है—*स वा एष ब्रह्मनिष्ठ इदं शरीरं मर्त्यमतिसृज्य ब्रह्माभिसम्पद्य ब्रह्मणा पश्यति ब्रह्मणा शृणोति ब्रह्मणैवेदं सर्वमनुभवति*। यहाँ यह बताया गया है कि जब जीव अपने इस भौतिक शरीर को त्यागता है और आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करता है, तो उसे पुनः आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है, जिससे वह भगवान् का साक्षात्कार कर सकता है। यह उनसे आमने-सामने बोल सकता है और सुन सकता है तथा जिस रूप में भगवान् हैं, उन्हें समझ सकता है। स्मृति से भी यह ज्ञात होता है—*वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठ-मूर्तयः*—वैकुण्ठ में सारे जीव भगवान् जैसे शरीरों में रहते हैं। जहाँ तक शारीरिक बनावट का प्रश्न है, अंश रूप जीवों तथा विष्णुमूर्ति के विस्तारों (अंशों) में कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् की कृपा से मुक्त होने पर जीव को आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है।

*ममैवांशः* शब्द भी अत्यन्त सार्थक है, जिसका अर्थ है भगवान् के अंश। भगवान् का अंश ऐसा नहीं होता, जैसे किसी पदार्थ का टूटा खंड (अंश)। हम द्वितीय अध्याय में देख चुके हैं कि आत्मा के खंड नहीं किये जा सकते। इस खंड की भौतिक दृष्टि से अनुभूति नहीं हो पाती। यह पदार्थ की भाँति नहीं है, जिसे चाहो तो कितने ही खण्ड कर दो और उन्हें पुनः जोड़ दो। ऐसी विचारधारा यहाँ पर लागू नहीं होती, क्योंकि संस्कृत के *सनातन* शब्द का प्रयोग हुआ है। विभिन्नांश सनातन है। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में यह भी कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भगवान् का अंश विद्यमान है (*देहिनोऽस्मिन्यथा देहैः*)। वह अंश जब शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाता है, तो आध्यात्मिक आकाश में वैकुण्ठलोक में अपना आदि आध्यात्मिक शरीर प्राप्त कर लेता है, जिससे वह भगवान् की संगति का लाभ उठाता है। किन्तु ऐसा समझा जाता है कि जीव भगवान् का अंश

होने के कारण गुणात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान है, जिस प्रकार स्वर्ण के अंश भी स्वर्ण होते हैं।

**शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।**

**गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥**

**शब्दार्थ**

शरीरम्—शरीर को; यत्—जिस; अवाप्नोति—प्राप्त करता है; यत्—जिस; च—तथा; अपि—भी; उत्क्रामति—त्यागता है; ईश्वरः—शरीर का स्वामी; गृहीत्वा—ग्रहण करके; एतानि—इन सबको; संयाति—चला जाता है; वायुः—वायु; गन्धान्—महक को; इव—सदृश; आशयात्—स्रोत से।

इस संसार में जीव अपनी देहात्मबुद्धि को एक शरीर से दूसरे में उसी तरह ले जाता है, जिस तरह वायु सुगन्धि को ले जाता है। इस प्रकार वह एक शरीर धारण करता है और फिर इसे त्याग कर दूसरा शरीर धारण करता है।

**तात्पर्य**

यहाँ पर जीव को ईश्वर अर्थात् अपने शरीर का नियामक कहा गया है। यदि वह चाहे तो अपने शरीर को त्याग कर उच्चतर योनि में जा सकता है और चाहे तो निम्नयोनि में जा सकता है। इस विषय में उसे थोड़ी स्वतन्त्रता प्राप्त है। शरीर में जो परिवर्तन होता है, वह उस पर निर्भर करता है। मृत्यु के समय वह जैसी चेतना बनाये रखता है, वही उसे दूसरे शरीर तक ले जाती है। यदि वह कुत्ते या बिल्ली जैसी चेतना बनाता है, तो उसे कुत्ते या बिल्ली का शरीर प्राप्त होता है। यदि वह अपनी चेतना दैवी गुणों में स्थित करता है, तो उसे देवता का स्वरूप प्राप्त होता है। और यदि वह कृष्णभावनामृत में होता है, तो वह आध्यात्मिक जगत में कृष्णलोक को जाता है, जहाँ उसका सान्निध्य कृष्ण से होता है। यह दावा मिथ्या है कि इस शरीर के नाश होने पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तरण करता है, और वर्तमान शरीर तथा वर्तमान कार्यकलाप ही अगले शरीर का आधार बनते हैं। कर्म के अनुसार भिन्न शरीर प्राप्त होता है और समय आने पर यह शरीर त्यागना होता है। यहाँ

यह कहा गया है कि सूक्ष्म शरीर, जो अगले शरीर का बीज वहन करता है, अगले जीवन में दूसरा शरीर निर्माण करता है। एक शरीर से दूसरे शरीर में देहान्तरण की प्रक्रिया तथा शरीर में रहते हुए संघर्ष करने को कर्षति अर्थात् जीवन संघर्ष कहते हैं।

**श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।**

**अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥**

**शब्दार्थ**

श्रोत्रम्—कान; चक्षुः—आँखें; स्पर्शनम्—स्पर्श; च—भी; रसनम्—जीभ; घ्राणम्—सूँघने की शक्ति; एव—भी; च—तथा; अधिष्ठाय—स्थित होकर; मनः—मन; च—भी; अयम्—यह; विषयान्—इन्द्रियविषयों को; उपसेवते—भोग करता है।

इस प्रकार दूसरा स्थूल शरीर धारण करके जीव विशेष प्रकार का कान, आँख, जीभ, नाक तथा स्पर्श इन्द्रिय (त्वचा) प्राप्त करता है, जो मन के चारों ओर संपुंजित हैं। इस प्रकार वह इन्द्रियविषयों के एक विशिष्ट समुच्चय का भोग करता है।

**तात्पर्य**

दूसरे शब्दों में, यदि जीव अपनी चेतना को कुत्तों तथा बिल्लियों के गुणों जैसा बना देता है, तो उसे अगले जन्म में कुत्ते या बिल्ली का शरीर प्राप्त होता है, जिसका वह भोग करता है। चेतना मूलतः जल के समान विमल होती है, लेकिन यदि हम जल में रंग मिला देते हैं, तो उसका रंग बदल जाता है। इसी प्रकार से चेतना भी शुद्ध है, क्योंकि आत्मा शुद्ध है लेकिन भौतिक गुणों की संगति के अनुसार चेतना बदलती जाती है। वास्तविक चेतना तो कृष्णभावनामृत है, अतः जब कोई कृष्णभावनामृत में स्थित होता है, तो वह शुद्धतर जीवन बिताता है। लेकिन यदि उसकी चेतना किसी भौतिक प्रवृत्ति से मिश्रित हो जाती है, तो अगले जीवन में उसे वैसा ही शरीर मिलता है। यह आवश्यक नहीं है कि उसे पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त हो—वह कुत्ता, बिल्ली, सूकर, देवता या चौरासी लाख योनियों में से कोई भी रूप प्राप्त कर सकता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।  
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

### शब्दार्थ

उत्क्रामन्तम्—शरीर त्यागते हुए; स्थितम्—शरीर में रहते हुए; वा अपि—अथवा;  
भुञ्जानम्—भोग करते हुए; वा—अथवा; गुण-अन्वितम्—प्रकृति के गुणों के अधीन;  
विमूढाः—मूर्ख व्यक्ति; न—कभी नहीं; अनुपश्यन्ति—देख सकते हैं; पश्यन्ति—देख  
सकते हैं; ज्ञान-चक्षुषः—ज्ञान रूपी आँखों वाले ।

मूर्ख न तो समझ पाते हैं कि जीव किस प्रकार अपना शरीर त्याग सकता है, न ही वे यह समझ पाते हैं कि प्रकृति के गुणों के अधीन वह किस तरह के शरीर का भोग करता है। लेकिन जिसकी आँखें ज्ञान में प्रशिक्षित होती हैं, वह यह सब देख सकता है।

### तात्पर्य

ज्ञान-चक्षुषः शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना ज्ञान के कोई न तो यह समझ सकता है कि जीव इस शरीर को किस प्रकार त्यागता है, न ही यह कि वह अगले जीवन में कैसा शरीर धारण करने जा रहा है, अथवा यह कि वह विशेष प्रकार के शरीर में क्यों रह रहा है। इसके लिए पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसे प्रामाणिक गुरु से *भगवद्गीता* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों को सुन कर समझा जा सकता है। जो इन बातों को समझने के लिए प्रशिक्षित है, वह भाग्यशाली है। प्रत्येक जीव किन्हीं परिस्थितियों में शरीर त्यागता है, जीवित रहता है और प्रकृति के अधीन होकर भोग करता है। फलस्वरूप वह इन्द्रियभोग के भ्रम में नाना प्रकार के सुख-दुःख सहता रहता है। ऐसे व्यक्ति जो काम तथा इच्छा के कारण निरन्तर मूर्ख बनते रहते हैं, अपने शरीर-परिवर्तन तथा विशेष शरीर में अपने वास को समझने की सारी शक्ति खो बैठते हैं। वे इसे नहीं समझ सकते। किन्तु जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान हो चुका है, वे देखते हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है और यह अपना शरीर बदल कर विभिन्न प्रकार से भोगता रहता है। ऐसे ज्ञान से युक्त व्यक्ति समझ सकता है कि इस संसार में बद्धजीव किस प्रकार

कष्ट भोग रहे हैं। अतएव जो लोग कृष्णभावनामृत में अत्यधिक आगे बढ़े हुए हैं, वे इस ज्ञान को सामान्य लोगों तक पहुँचाने में प्रयत्नशील रहते हैं, क्योंकि उनका बद्ध जीवन अत्यन्त कष्टप्रद रहता है। उन्हें इसमें से निकल कर कृष्णभावनाभावित होकर आध्यात्मिक लोक में जाने के लिए अपने को मुक्त करना चाहिए।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।

यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

#### शब्दार्थ

यतन्तः—प्रयास करते हुए; योगिनः—अध्यात्मवादी, योगी; च—भी; एनम्—इसे; पश्यन्ति—देख सकते हैं; आत्मनि—अपने में; अवस्थितम्—स्थित; यतन्तः—प्रयास करते हुए; अपि—यद्यपि; अकृत-आत्मानः—आत्म-साक्षात्कार से विहीन; न—नहीं; एनम्—इसे; पश्यन्ति—देखते हैं; अचेतसः—अविकसित मनो वाले, अज्ञानी।

आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त प्रयत्नशील योगीजन यह सब स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। लेकिन जिनके मन विकसित नहीं हैं और जो आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं हैं, वे प्रयत्न करके भी यह नहीं देख पाते कि क्या हो रहा है।

#### तात्पर्य

अनेक योगी आत्म-साक्षात्कार के पथ पर होते हैं, लेकिन जो आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त नहीं है, वह यह नहीं देख पाता कि जीव के शरीर में कैसे-कैसे परिवर्तन हो रहे हैं। इस प्रसंग में *योगिनः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। आजकल ऐसे अनेक तथाकथित योगी हैं और योगियों के तथाकथित संगठन हैं, लेकिन आत्म-साक्षात्कार के मामले में वे शून्य हैं। वे केवल कुछ आसनों में व्यस्त रहते हैं और यदि उनका शरीर सुगठित तथा स्वस्थ हो गया, तो वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। उन्हें इसके अतिरिक्त कोई जानकारी नहीं रहती। वे *यतन्तोऽप्यकृतात्मानः* कहलाते हैं। यद्यपि वे तथाकथित योगपद्धति का प्रयास करते हैं, लेकिन वे स्वरूपसिद्ध नहीं हो पाते। ऐसे व्यक्ति आत्मा के देहान्तरण को नहीं समझ सकते। केवल वे ही ये सभी बातें समझ पाते हैं, जो सचमुच योग पद्धति में रमते हैं और जिन्हें आत्मा,



जगत् तथा परमेश्वर की अनुभूति हो चुकी है। दूसरे शब्दों में, जो भक्तियोगी हैं वे ही समझ सकते हैं कि किस प्रकार से सब कुछ घटित होता है।

**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।**

**यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥**

**शब्दार्थ**

यत्—जो; आदित्य-गतम्—सूर्यप्रकाश में स्थित; तेजः—तेज; जगत्—सारा संसार; भासयते—प्रकाशित होता है; अखिलम्—सम्पूर्ण; यत्—जो; चन्द्रमसि—चन्द्रमा में; यत्—जो; च—भी; अग्नौ—अग्नि में; तत्—वह; तेजः—तेज; विद्धि—जानो; मामकम्—मुझसे।

**सूर्य का तेज, जो सारे विश्व के अंधकार को दूर करता है, मुझसे ही निकलता है। चन्द्रमा तथा अग्नि के तेज भी मुझसे उत्पन्न हैं।**

**तात्पर्य**

अज्ञानी मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि यह सब कुछ कैसे घटित होता है। लेकिन भगवान् ने यहाँ पर जो कुछ बतलाया है, उसे समझ कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा बिजली देखता है। उसे यह समझने का प्रयास करना चाहिए कि चाहे सूर्य का तेज हो, या चन्द्रमा, अग्नि अथवा बिजली का तेज, ये सब भगवान् से ही उद्भूत हैं। कृष्णभावनामृत का प्रारम्भ इस भौतिक जगत् में बद्धजीव को उन्नति करने के लिए काफी अवसर प्रदान करता है। जीव मूलतः परमेश्वर के अंश हैं और भगवान् यहाँ पर इंगित कर रहे हैं कि जीव किस प्रकार भगवद्धाम को प्राप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक से हम यह समझ सकते हैं कि सूर्य सम्पूर्ण सौर मण्डल को प्रकाशित कर रहा है। ब्रह्माण्ड अनेक हैं और सौर मण्डल भी अनेक हैं। सूर्य, चन्द्रमा तथा लोक भी अनेक हैं, लेकिन प्रत्येक ब्रह्माण्ड में केवल एक सूर्य है। *भगवद्गीता* में (१०.२१) कहा गया है कि चन्द्रमा भी एक नक्षत्र है (*नक्षत्राणामहं शशी*)। सूर्य का प्रकाश परमेश्वर के आध्यात्मिक आकाश में आध्यात्मिक तेज के कारण है। सूर्योदय के साथ ही मनुष्य के

कार्यकलाप प्रारम्भ हो जाते हैं। वे भोजन पकाने के लिए अग्नि जलाते हैं और फैक्टरियाँ चलाने के लिए भी अग्नि जलाते हैं। अग्नि की सहायता से अनेक कार्य किये जाते हैं। अतएव सूर्योदय, अग्नि तथा चन्द्रमा की चाँदनी जीवों को अत्यन्त सुहावने लगते हैं। उनकी सहायता के बिना कोई जीव नहीं रह सकता। अतएव यदि मनुष्य यह जान ले कि सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि का प्रकाश तथा तेज भगवान् श्रीकृष्ण से उद्भूत हो रहा है, तो उसमें कृष्णभावनामृत का सूत्रपात हो जाता है। चन्द्रमा के प्रकाश से सारी वनस्पतियाँ पोषित होती हैं। चन्द्रमा का प्रकाश इतना आनन्दप्रद है कि लोग सरलता से समझ सकते हैं कि वे भगवान् कृष्ण की कृपा से ही जी रहे हैं। उनकी कृपा के बिना न तो सूर्य होगा, न चन्द्रमा, न अग्नि और सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के बिना हमारा जीवित रहना असम्भव है। बद्धजीव में कृष्णभावनामृत जगाने वाले ये ही कतिपय विचार हैं।

**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।**

**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥**

**शब्दार्थ**

गाम्—लोक में; आविश्य—प्रवेश करके; च—भी; भूतानि—जीवों को; धारयामि—धारण करता हूँ; अहम्—मैं; ओजसा—अपनी शक्ति से; पुष्णामि—पोषण करता हूँ; च—तथा; औषधीः—वनस्पतियों का; सर्वाः—समस्त; सोमः—चन्द्रमा; भूत्वा—बनकर; रस-आत्मकः—रस प्रदान करनेवाला ।

मैं प्रत्येक लोक में प्रवेश करता हूँ और मेरी शक्ति से सारे लोक अपनी कक्षा में स्थित रहते हैं। मैं चन्द्रमा बनकर समस्त वनस्पतियों को जीवन-रस प्रदान करता हूँ।

**तात्पर्य**

ऐसा ज्ञात है कि सारे लोक केवल भगवान् की शक्ति से वायु में तैर रहे हैं। भगवान् प्रत्येक अणु, प्रत्येक लोक तथा प्रत्येक जीव में प्रवेश करते हैं। इसकी विवेचना *ब्रह्मसंहिता* में की गई है। उसमें कहा गया है—परमेश्वर का एक अंश, परमात्मा, लोकों में, ब्रह्माण्ड में, जीव में तथा अणु तक में प्रवेश करता है। अतएव उनके प्रवेश करने से प्रत्येक वस्तु ठीक से दिखती है। जब आत्मा होता है तो जीवित मनुष्य पानी में तैर सकता है।

लेकिन जब जीवित स्फुलिंग इस देह से निकल जाता है और शरीर मृत हो जाता है तो शरीर डूब जाता है। निस्सन्देह सड़ने के बाद यह शरीर तिनके तथा अन्य वस्तुओं के समान तैरता है। लेकिन मरने के तुरन्त बाद शरीर पानी में डूब जाता है। इसी प्रकार ये सारे लोक शून्य में तैर रहे हैं और यह सब उनमें भगवान् की परम शक्ति के प्रवेश के कारण है। उनकी शक्ति प्रत्येक लोक को उसी तरह थामे रहती है, जिस प्रकार धूल को मुट्टी। मुट्टी में बन्द रहने पर धूल के गिरने का भय नहीं रहता, लेकिन ज्योंही धूल को वायु में फेंक दिया जाता है, वह नीचे गिर पड़ती है। इसी प्रकार ये सारे लोक, जो वायु में तैर रहे हैं, वास्तव में भगवान् के विराट रूप की मुट्टी में बँधे हैं। उनके बल तथा शक्ति से सारी चर तथा अचर वस्तुएँ अपने-अपने स्थानों पर टिकी हैं। वैदिक मन्त्रों में कहा गया है कि भगवान् के कारण सूर्य चमकता है और सारे लोक लगातार घूमते रहते हैं। यदि ऐसा उनके कारण न हो तो सारे लोक वायु में धूल के समान बिखर कर नष्ट हो जाएँ। इसी प्रकार से भगवान् के ही कारण चन्द्रमा समस्त वनस्पतियों का पोषण करता है। चन्द्रमा के प्रभाव से सब्जियाँ सुस्वादु बनती हैं। चन्द्रमा के प्रकाश के बिना सब्जियाँ न तो बढ़ सकती हैं और न स्वादिष्ट हो सकती हैं। वास्तव में मानवसमाज भगवान् की कृपा से काम करता है, सुख से रहता है और भोजन का आनन्द लेता है। अन्यथा मनुष्य जीवित न रहता। *रसात्मकः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक वस्तु चन्द्रमा के प्रभाव से परमेश्वर के द्वारा स्वादिष्ट बनती है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; वैश्वानरः—पाचक-अग्नि के रूप में मेरा पूर्ण अंश; भूत्वा—बन कर;  
प्राणिनाम्—समस्त जीवों के; देहम्—शरीरों में; आश्रितः—स्थित; प्राण—उच्छ्वास,  
निश्वास; अपान—श्वास; समायुक्तः—सन्तुलित रखते हुए; पचामि—पचाता हूँ;  
अन्नम्—अन्न को; चतुः-विधम्—चार प्रकार के।

मैं समस्त जीवों के शरीरों में पाचन-अग्नि ( वैश्वानर ) हूँ और मैं श्वास-प्रश्वास ( प्राण वायु ) में रह कर चार प्रकार के अन्नों को पचाता हूँ।

तात्पर्य

आर्युवेद शास्त्र के अनुसार आमाशय (पेट) में अग्नि होती है, जो वहाँ पहुँचे भोजन को पचाती है। जब यह अग्नि प्रज्वलित नहीं रहती तो भूख नहीं जगती और जब यह अग्नि ठीक रहती है, तो भूख लगती है। कभी-कभी जब अग्नि मन्द हो जाती है तो उपचार की आवश्यकता होती है। जो भी हो, यह अग्नि भगवान् का प्रतिनिधि स्वरूप है। वैदिक मन्त्रों से भी ( बृहदारण्यक उपनिषद् ५.९.१ ) पुष्टि होती है कि परमेश्वर या ब्रह्म अग्निरूप में आमाशय के भीतर स्थित हैं और समस्त प्रकार के अन्न को पचाते हैं ( अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते )। चूँकि भगवान् सभी प्रकार के अन्नों के पाचन में सहायक होते हैं, अतएव जीव भोजन करने के मामले में स्वतन्त्र नहीं है। जब तक परमेश्वर पाचन में उसकी सहायता नहीं करते, तब तक खाने की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार भगवान् ही अन्न को उत्पन्न करते और वे ही पचाते हैं और उनकी ही कृपा से हम जीवन का आनन्द उठाते हैं। वेदान्तसूत्र में ( १.२.२७ ) भी इसकी पुष्टि हुई है। शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च—भगवान् शब्द के भीतर, शरीर के भीतर, वायु के भीतर तथा यहाँ तक कि पाचन शक्ति के रूप में आमाशय में भी उपस्थित हैं। अन्न चार प्रकार का होता है—कुछ निगले जाते हैं ( पेय ), कुछ चबाये जाते हैं ( भोज्य ), कुछ चाटे जाते हैं ( लेह्य ) तथा कुछ चूसे जाते हैं ( चोष्य )। भगवान् सभी प्रकार के अन्नों की पाचक शक्ति हैं।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सर्वस्य—समस्त प्राणियों; च—तथा; अहम्—मैं; हृदि—हृदय में; सन्निविष्टः—स्थित;  
 मत्तः—मुझ से; स्मृतिः—स्मरणशक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; अपोहनम्—विस्मृति; च—तथा;  
 वेदैः—वेदों के द्वारा; च—भी; सर्वैः—समस्त; अहम्—मैं हूँ; एव—निश्चय ही;  
 वेद्यः—जानने योग्य, ज्ञेय; वेदान्त-कृत्—वेदान्त के संकलनकर्ता; वेद-वित्—वेदों के  
 ज्ञाता; एव—निश्चय ही; च—तथा; अहम्—मैं।

मैं प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हूँ और मुझ से ही स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है। मैं ही वेदों के द्वारा जानने योग्य हूँ। निस्सन्देह मैं वेदान्त का संकलनकर्ता तथा समस्त वेदों का जानने वाला हूँ।

#### तात्पर्य

परमेश्वर परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और उन्हीं के कारण सारे कर्म प्रेरित होते हैं। जीव अपने विगत जीवन की सारी बातें भूल जाता है, लेकिन उसे परमेश्वर के निर्देशानुसार कार्य करना होता है, जो उसके सारे कर्मों का साक्षी है। अतएव वह अपने विगत कर्मों के अनुसार कार्य करना प्रारम्भ करता है। इसके लिए आवश्यक ज्ञान तथा स्मृति उसे प्रदान की जाती है। लेकिन वह विगत जीवन के विषय में भूलता रहता है। इस प्रकार भगवान् न केवल सर्वव्यापी हैं, अपितु वे प्रत्येक हृदय में अन्तर्यामी भी हैं। वे विभिन्न कर्मफल प्रदान करने वाले हैं। वे न केवल निराकार ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में पूजनीय हैं, अपितु वे वेदों के अवतार के रूप में भी पूजनीय हैं। वेद लोगों को सही दिशा बताते हैं, जिससे वे समुचित ढंग से अपना जीवन ढाल सकें और भगवान् के धाम को वापस जा सकें। वेद भगवान् कृष्ण विषयक ज्ञान प्रदान करते हैं और अपने अवतार व्यासदेव के रूप में कृष्ण ही वेदान्तसूत्र के संकलनकर्ता हैं। व्यासदेव द्वारा *श्रीमद्भागवत* के रूप में किया गया वेदान्तसूत्र का भाष्य वेदान्तसूत्र की वास्तविक सूचना प्रदान करता है। भगवान् इतने पूर्ण हैं कि बद्धजीवों के उद्धार हेतु वे उसके अन्न के प्रदाता एवं पाचक हैं, उसके कार्यकलापों के साक्षी हैं तथा वेदों के रूप में ज्ञान के प्रदाता हैं। वे भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में *भगवद्गीता* के शिक्षक हैं। वे बद्धजीव द्वारा पूज्य हैं। इस प्रकार ईश्वर सर्वकल्याणप्रद तथा सर्वदयामय हैं।

अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्। जीव ज्योंही अपने इस शरीर को छोड़ता है, इसे भूल जाता है, लेकिन परमेश्वर द्वारा प्रेरित होने पर वह फिर से काम करने लगता है। यद्यपि जीव भूल जाता है, लेकिन भगवान् उसे बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह अपने पूर्वजन्म के अपूर्ण कार्य को फिर से करने लगता है। अतएव जीव अपने हृदय में स्थित परमेश्वर के आदेशानुसार इस जगत् में सुख या दुःख का केवल भोग ही नहीं करता है, अपितु उनसे वेद समझने का अवसर भी प्राप्त करता है। यदि कोई ठीक से वैदिक ज्ञान पाना चाहे तो कृष्ण उसे आवश्यक बुद्धि प्रदान करते हैं। वे किसलिए वैदिक ज्ञान प्रस्तुत करते हैं? इसलिए कि जीव को कृष्ण को समझने की आवश्यकता है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य से होती है—*योऽसौ सर्वैर्वेदैर्गीयते*। चारों वेदों, वेदान्त सूत्र तथा उपनिषदों एवं पुराणों समेत सारे वैदिक साहित्य में परमेश्वर की कीर्ति का गान है। उन्हें वैदिक अनुष्ठानों द्वारा, वैदिक दर्शन की व्याख्या द्वारा तथा भगवान् की भक्तिमय पूजा द्वारा प्राप्त किया जाता है। अतएव वेदों का उद्देश्य कृष्ण को समझना है। वेद हमें निर्देश देते हैं, जिससे कृष्ण को जाना जा सकता है और उनकी अनुभूति की जा सकती है। भगवान् ही चरम लक्ष्य हैं। वेदान्तसूत्र (१.१.४) में इसकी पुष्टि इन शब्दों में हुई है—*तत्तु समन्वयात्*। मनुष्य तीन अवस्थाओं में सिद्धि प्राप्त करता है। वैदिक साहित्य के ज्ञान से भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझा जा सकता है, विभिन्न विधियों को सम्पन्न करके उन तक पहुँचा जा सकता है और अन्त में उस परम लक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति की जा सकती है। इस श्लोक में वेदों के प्रयोजन, वेदों के ज्ञान तथा वेदों के लक्ष्य को स्पष्टतः परिभाषित किया गया है।

**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।**

**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥**

**शब्दार्थ**

द्वौ—दो; इमौ—ये; पुरुषौ—जीव; लोके—संसार में; क्षरः—च्युत; च—तथा; अक्षरः—अच्युत; एव—निश्चय ही; च—तथा; क्षरः—च्युत; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—जीवों को; कूट-स्थः—एकत्व में; अक्षरः—अच्युत; उच्यते—कहा जाता है।

जीव दो प्रकार के हैं—च्युत तथा अच्युत। भौतिक जगत् में प्रत्येक जीव च्युत ( क्षर ) होता है और आध्यात्मिक जगत् में प्रत्येक जीव अच्युत ( अक्षर ) कहलाता है।

तात्पर्य

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भगवान् ने अपने व्यासदेव अवतार में ब्रह्मसूत्र का संकलन किया। भगवान् ने यहाँ पर वेदान्तसूत्र की विषयवस्तु का सार-संक्षेप दिया है। उनका कहना है कि जीव जिनकी संख्या अनन्त है, दो श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—च्युत ( क्षर ) तथा अच्युत ( अक्षर )। जीव भगवान् के सनातन पृथक्कीकृत अंश ( विभिन्नांश ) हैं। जब उनका संसर्ग भौतिक जगत् से होता है तो वे जीवभूत कहलाते हैं। यहाँ पर क्षरः सर्वाणि भूतानि पद प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है कि जीव च्युत हैं। लेकिन जो जीव परमेश्वर से एकत्व स्थापित कर लेते हैं वे अच्युत कहलाते हैं। एकत्व का अर्थ यह नहीं है कि उनकी अपनी निजी सत्ता नहीं है, बल्कि यह कि दोनों में भिन्नता नहीं है। वे सब सृजन के प्रयोजन को मानते हैं। निस्सन्देह आध्यात्मिक जगत् में सृजन जैसी कोई वस्तु नहीं है, लेकिन चूँकि, जैसा कि वेदान्तसूत्र में कहा गया है, भगवान् समस्त उद्भवों के स्रोत हैं, अतएव यहाँ पर इस विचारधारा की व्याख्या की गई है।

भगवान् श्रीकृष्ण के कथनानुसार जीवों की दो श्रेणियाँ हैं। वेदों में इसके प्रमाण मिलते हैं, अतएव इसमें सन्देह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस संसार में संघर्ष-रत सारे जीव मन तथा पाँच इन्द्रियों से युक्त शरीर वाले हैं जो परिवर्तनशील हैं। जब तक जीव बद्ध है, तब तक उसका शरीर पदार्थ के संसर्ग से बदलता रहता है। चूँकि पदार्थ बदलता रहता है, इसलिए जीव बदलते प्रतीत होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत् में शरीर पदार्थ से नहीं बना होता, अतएव उसमें परिवर्तन नहीं होता। भौतिक जगत् में जीव छः परिवर्तनों से गुजरता है—जन्म, वृद्धि, अस्तित्व, प्रजनन, क्षय तथा विनाश। ये भौतिक शरीर के परिवर्तन हैं। लेकिन आध्यात्मिक जगत् में शरीर-परिवर्तन नहीं होता, वहाँ न जरा है, न जन्म और न मृत्यु। वे सब एकावस्था में रहते हैं। क्षरः सर्वाणि भूतानि—जो भी जीव, आदि जीव

ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र चींटी तक भौतिक प्रकृति के संसर्ग में आता है, वह अपना शरीर बदलता है। अतएव ये सब क्षर या च्युत हैं। किन्तु आध्यात्मिक जगत् में वे मुक्त जीव सदा एकावस्था में रहते हैं।

**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।**

**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥**

**शब्दार्थ**

उत्तमः—श्रेष्ठ; पुरुषः—व्यक्ति, पुरुष; तु—लेकिन; अन्यः—अन्य; परम—परम; आत्मा—आत्मा; इति—इस प्रकार; उदाहृतः—कहा जाता है; यः—जो; लोक—ब्रह्माण्ड के; त्रयम्—तीन विभागों में; आविश्य—प्रवेश करके; बिभर्ति—पालन करता है; अव्ययः—अविनाशी; ईश्वरः—भगवान्।

इन दोनों के अतिरिक्त, एक परम पुरुष परमात्मा है, जो साक्षात् अविनाशी भगवान् है और जो तीनों लोकों में प्रवेश करके उनका पालन कर रहा है।

**तात्पर्य**

इस श्लोक का भाव कठोपनिषद् (२.२.१३) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् में (६.१३) अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। वहाँ यह कहा गया है कि असंख्य जीवों के नियन्ता, जिनमें से कुछ बद्ध हैं और कुछ मुक्त हैं, एक परम पुरुष है जो परमात्मा है। उपनिषद् का श्लोक इस प्रकार है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। सारांश यह है कि बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में से एक परम पुरुष भगवान् होता है, जो उन सबका पालन करता है और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार भोग की सुविधा प्रदान करता है। वह भगवान् परमात्मा रूप में सबके हृदय में स्थित है। जो बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें समझ सकता है, वही पूर्ण शान्ति-लाभ कर सकता है, अन्य कोई नहीं।

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**

**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥**

**शब्दार्थ**



यस्मात्—चूँकि; क्षरम्—च्युत; अतीतः—दिव्य; अहम्—मैं हूँ; अक्षरात्—अक्षर से परे; अपि—भी; च—तथा; उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; अतः—अतएव; अस्मि—मैं हूँ; लोके—संसार में; वेदे—वैदिक साहित्य में; च—तथा; प्रथितः—विख्यात; पुरुष-उत्तमः—परम पुरुष के रूप में।

चूँकि मैं क्षर तथा अक्षर दोनों के परे हूँ और चूँकि मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, अतएव मैं इस जगत् में तथा वेदों में परम पुरुष के रूप में विख्यात हूँ।

तात्पर्य

भगवान् कृष्ण से बढ़कर कोई नहीं है—न तो बद्धजीव न मुक्त जीव। अतएव वे पुरुषोत्तम हैं। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि जीव तथा भगवान् व्यष्टि हैं। अन्तर इतना है कि जीव चाहे बद्ध अवस्था में रहे या मुक्त अवस्था में, वह शक्ति में भगवान् की अकल्पनीय शक्तियों से बढ़कर नहीं हो सकता। यह सोचना गलत है कि भगवान् तथा जीव समान स्तर पर हैं या सब प्रकार से एकसमान हैं। इनके व्यक्तित्वों में सदैव श्रेष्ठता तथा निम्नता बनी रहती है। उत्तम शब्द अत्यन्त सार्थक है। भगवान् से बढ़कर कोई नहीं है।

लोके शब्द “ पौरुष आगम (स्मृति-शास्त्र) में” के लिए आया है। जैसा कि निरुक्ति कोश में पुष्टि की गई है—*लोक्यते वेदार्थोऽनेन*—“वेदों का प्रयोजन स्मृति-शास्त्रों में विवेचित है।”

भगवान् के अन्तर्यामी परमात्मा स्वरूप का भी वेदों में वर्णन हुआ है। निम्नलिखित श्लोक वेदों में (*छान्दोग्य उपनिषद् ८.१२.३*) आया है—*तावदेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः*। “शरीर से निकल कर परम आत्मा का प्रवेश निराकार *ब्रह्मज्योति* में होता है। तब वे अपने इस आध्यात्मिक स्वरूप में बने रहते हैं। यह परम आत्मा ही परम पुरुष कहलाता है।” इसका अर्थ यह हुआ कि परम पुरुष अपना आध्यात्मिक तेज प्रकट करते तथा प्रसारित करते रहते हैं और यही चरम प्रकाश है। उस परम पुरुष का एक स्वरूप है अन्तर्यामी परमात्मा। भगवान् सत्यवती तथा पराशर के पुत्ररूप में अवतार ग्रहण कर व्यासदेव के रूप में वैदिक ज्ञान की व्याख्या करते हैं।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९ ॥

### शब्दार्थ

यः—जो; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; असम्मूढः—संशयरहित; जानाति—जानता है; पुरुष-उत्तमम्—भगवान्; सः—वह; सर्व-वित्—सब कुछ जानने वाला; भजति—भक्ति करता है; माम्—मुझको; सर्व-भावेन—सभी प्रकार से; भारत—हे भरतपुत्र ।

जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सब कुछ जानने वाला है। अतएव हे भरतपुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है।

### तात्पर्य

जीव तथा भगवान् की स्वाभाविक स्थिति के विषय में अनेक दार्शनिक ऊहापोह करते हैं। इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट बताते हैं कि जो भगवान् कृष्ण को परम पुरुष के रूप में जानता है, वह सारी वस्तुओं का ज्ञाता है। अपूर्ण ज्ञाता परम सत्य के विषय में केवल चिन्तन करता जाता है, जबकि पूर्ण ज्ञाता समय का अपव्यय किये बिना सीधे कृष्णभावनामृत में लग जाता है, अर्थात् भगवान् की भक्ति करने लगता है। सम्पूर्ण *भगवद्गीता* में पग-पग पर इस तथ्य पर बल दिया गया है। फिर भी *भगवद्गीता* के ऐसे अनेक कट्टर भाष्यकार हैं, जो परमेश्वर तथा जीव को एक ही मानते हैं।

वैदिक ज्ञान श्रुति कहलाता है, जिसका अर्थ है श्रवण करके सीखना। वास्तव में वैदिक सूचना कृष्ण तथा उनके प्रतिनिधियों जैसे अधिकारियों से ग्रहण करनी चाहिए। यहाँ कृष्ण ने हर वस्तु का अंतर सुन्दर ढंग से बताया है, अतएव इसी स्रोत से सुनना चाहिए। लेकिन केवल सूकरों की तरह सुनना पर्याप्त नहीं है, मनुष्य को चाहिए कि अधिकारियों से समझे। ऐसा नहीं कि केवल शुष्क चिन्तन ही करता रहे। मनुष्य को विनीत भाव से *भगवद्गीता* से सुनना चाहिए कि सारे जीव सदैव भगवान् के अधीन हैं। जो भी इसे समझ लेता है, वही श्रीकृष्ण के कथनानुसार वेदों के प्रयोजन को समझता है, अन्य कोई नहीं समझता।

भजति शब्द अत्यन्त सार्थक है। कई स्थानों पर भजति का सम्बन्ध भगवान् की सेवा के अर्थ में व्यक्त हुआ है। यदि कोई व्यक्ति पूर्ण कृष्णभावनामृत में रत है, अर्थात् भगवान् की भक्ति करता है, तो यह समझना चाहिए कि उसने सारा वैदिक ज्ञान समझ लिया है। वैष्णव परम्परा में यह कहा जाता है कि यदि कोई कृष्ण-भक्ति में लगा रहता है, तो उसे भगवान् को जानने के लिए किसी अन्य आध्यात्मिक विधि की आवश्यकता नहीं रहती। भगवान् की भक्ति करने के कारण वह पहले से लक्ष्य तक पहुँचा रहता है। वह ज्ञान की समस्त प्रारम्भिक विधियों को पार कर चुका होता है। लेकिन यदि कोई लाखों जन्मों तक चिन्तन करने पर भी इस लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाता कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं और उनकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिए, तो उसका अनेक जन्मों का चिन्तन व्यर्थ जाता है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; गुह्य-तमम्—सर्वाधिक गुप्त; शास्त्रम्—शास्त्र; इदम्—यह; उक्तम्—प्रकट किया गया; मया—मेरे द्वारा; अनघ—हे पापरहित; एतत्—यह; बुद्ध्वा—समझ कर; बुद्धि-मान्—बुद्धिमान; स्यात्—हो जाता है; कृत-कृत्यः—अपने प्रयत्नों में परम पूर्ण; च—तथा; भारत—हे भरतपुत्र।

हे अनघ! यह वैदिक शास्त्रों का सर्वाधिक गुप्त अंश है, जिसे मैंने अब प्रकट किया है। जो कोई इसे समझता है, वह बुद्धिमान हो जाएगा और उसके प्रयास पूर्ण होंगे।

तात्पर्य

भगवान् ने यहाँ स्पष्ट किया है कि यही सारे शास्त्रों का सार है और भगवान् ने इसे जिस रूप में कहा है उसे उसी रूप में समझा जाना चाहिए। इस तरह मनुष्य बुद्धिमान तथा दिव्य ज्ञान में पूर्ण हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, भगवान् के इस दर्शन को समझने तथा उनकी दिव्य सेवा में प्रवृत्त होने से प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के गुणों के समस्त कल्मष से मुक्त हो सकता है। भक्ति आध्यात्मिक ज्ञान की एक विधि है। जहाँ भी भक्ति होती है, वहाँ

भौतिक कल्मष नहीं रह सकता। भगवद्भक्ति तथा स्वयं भगवान् एक हैं, क्योंकि दोनों आध्यात्मिक हैं। भक्ति परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति के भीतर होती है। भगवान् सूर्य के समान हैं और अज्ञान अंधकार है। जहाँ सूर्य विद्यमान है, वहाँ अंधकार का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव जब भी प्रामाणिक गुरु के मार्गदर्शन के अन्तर्गत भक्ति की जाती है, तो अज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि इस कृष्णभावनामृत को ग्रहण करे और बुद्धिमान तथा शुद्ध बनने के लिए भक्ति करे। जब तक कोई कृष्ण को इस प्रकार नहीं समझता और भक्ति में प्रवृत्त नहीं होता, तब तक सामान्य मनुष्य की दृष्टि में कोई कितना बुद्धिमान क्यों न हो, वह पूर्णतया बुद्धिमान नहीं है।

जिस *अनघ* शब्द से अर्जुन को सम्बोधित किया गया है, वह सार्थक है। *अनघ* अर्थात् “हे निष्पाप” का अर्थ है कि जब तक मनुष्य समस्त पापकर्मों से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक कृष्ण को समझ पाना कठिन है। उसे समस्त कल्मष, समस्त पापकर्मों से मुक्त होना होता है, तभी वह समझ सकता है। लेकिन भक्ति इतनी शुद्ध तथा शक्तिमान् होती है कि एक बार भक्ति में प्रवृत्त होने पर मनुष्य स्वतः निष्पाप हो जाता है।

शुद्ध भक्तों की संगति में रहकर पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति करते हुए कुछ बातों को बिल्कुल ही दूर कर देना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात जिस पर विजय पानी है, वह है हृदय की दुर्बलता। पहला पतन प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की इच्छा के कारण होता है। इस तरह मनुष्य भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति को त्याग देता है। दूसरी हृदय की दुर्बलता है कि जब कोई अधिकाधिक प्रभुत्व जताने की इच्छा करता है, तो वह भौतिक पदार्थ के स्वामित्व के प्रति आसक्त हो जाता है। इस संसार की सारी समस्याएँ इन्हीं हृदय की दुर्बलताओं के कारण हैं। इस अध्याय के प्रथम पाँच श्लोकों में हृदय की इन्हीं दुर्बलताओं से अपने को मुक्त करने की विधि का वर्णन हुआ है और छठे श्लोक से अन्तिम श्लोक तक *पुरुषोत्तम योग* की विवेचना हुई है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय “पुरुषोत्तम योग”  
का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।